

# स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३८ अंक-१८२, वर्ष-१६, नवम्बर-२०१२

कारतक सुद २, गुरुवार, दि.०२-११-१९७८, बहिनश्री के वचनामृत,  
वचनामृत-३५७ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन - १३८

इस संसार में जीव अकेला जन्मता है, अकेला मरता है, अकेला परिभ्रमण करता है। अकेला मुक्त होता है, उसे किसी का साथ नहीं है। मात्र भ्रांति से वह दूसरे की ओट और आश्रय मानता है। इस प्रकार चौदह ब्रह्माण्ड में अकेले भटकते हुए जीवने इतने मरण किये हैं कि ओर उसके मरण के दुःख में उसकी माता की आँखों से जो आँसू बहे उनसे समुद्र भर आये। भवपरिवर्तन करते-करते बड़ी मुश्कील से तुझे यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ है, ऐसा उत्तम योग मिला है, उसमें आत्मा का हित कर लेने जैसा है। बिजली की चमक में मोती पिरो लेने जैसा है। यह मनुष्यभव और उत्तम संयोग बिजली की चमक की भाँति अल्पकाल में विलीन हो जायेंगे। इसलिये जैसे तू अकेला ही दुःखी हो रहा है, वैसे अकेला ही सुख के मार्ग पर जा।



वचनामृत-३५७। 'इस संसार में जीव अकेला जन्मता है,...

मुमुक्षु :- शरीर सहित जन्मता है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- शरीर भी भिन्न है। शरीर शरीर के साथ आता है। आत्मा तो अकेला (जन्म लेता है।) जैसे राग-द्वेष आदि पूर्वमें किये हो इसे लेकर अकेला आता है। कर्म तो कर्म के कारण आते हैं। आहा..हा..! अकेला मरता है, देह छूटती है तब अकेला चला जाता है। कोई कुटुम्ब, परिवार जिनके लिये पापबंध किये होंगे, के-लड़का, लड़की इत्यादि कोई साथ नहीं जाते। आहा..हा..! आयुष्य पूर्ण होने पर कोई साथ नहीं आते, शरीर भी साथ में नहीं आता। चैतन्यमूर्ति भगवानआत्मा अकेला ही अपने पुण्य-पाप के भाव सहित आता है। आहा..हा..!

'अकेला मरता है, अकेला परिभ्रमण करता है।' चौराशी के अवतार में। आहा..हा..! चारगति का परिभ्रमण अकेला करता है, कोई सहायक नहीं होता वहाँ पर। आहा..हा..! 'अकेला मुक्त होता है' मुक्ति में भी अकेला जाता है इसमें किसी भी पर की सहायता काम नहीं आती। अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप भगवानआत्मा, इसका अनुभव करके स्थिर होकर अकेला मुक्त होता है। किसी का संग्रह सहायभूत होवे यह वस्तुस्थिति नहीं है। आहा..हा..! 'उसे किसी का साथ नहीं है।' आहा..हा..! जिनके लिये

पाप किये स्त्री, संतान, कुटुम्ब, धन इसमें से कोई सहायक नहीं होते। सब यहीं पर पड़े रहते हैं। आहा..हा..!

‘मात्र भ्रांति से वह दूसरे की ओट और आश्रय मानता है।’ आहा..हा..! मुझे तंदुरस्त शरीर का आश्रय-ओट मिले, कुटुम्ब-कबीला मेरी सेवा अच्छीतरह करे, ऐसे अज्ञानी स्वयं भ्रमणा से मानता है। आहा..हा..! केवल भ्रांति, मिथ्यात्व है भ्रमणा। आहा..हा..! वह एक प्रसंग आता है कथा में। दो भाई थे। छोटा भाई बिमार हुआ था और बड़ा भाई इसका इलाज करता था। जिसमें अंडे का रस लाता था। छोटेभाई को पता नहीं था कि, इसमें अंडे का रस है। बड़ाभाई लानेवाला मरकर नरक में गया और यह छोटा जो था वह परमाधामी हुआ वहीं पर। जो दवाई लाकर देता था वह भाई नारकी हुआ। परमाधामी उसे मारता था। अरे..! लेकिन मैंने तो तुम्हारे लिये पाप किये थे। किसने कहा था कि तू मेरे लिये पाप कर? अंडे का रस और अंडे लाता था। उससे छिपाता था कि, इसमें अंडे का रस है। परमाधामी बोला मैंने तुझे कब कहा था? तुझे तो अभी मारना ही मेरा हक बनता है। आहा..हा..! संसार ऐसे अनादि से चल रहा है।

भ्रमणा में पर की ओट, यह ओट नाम आश्रय लेना चाहता है कि इससे मुझे यह मिलेगा, इससे यह मिलेगा। रोग होवे तब यों नजर घूमाये ये दवाई, डोक्टर के सामने। अरे! मुझे कोई बचाईये। कौन बचाये लेकिन? बापू! आहा..हा..! आयुष्य की स्थिति पूर्ण होनेपर कौन उसे रख सकेगा? किसीका साथ, किसी का आधार है नहीं। आहा..हा..!

‘इस प्रकार चौदह ब्रह्माण्ड में अकेले भटकते हुए जीवने इतने मरण किये हैं कि उसके मरण के दुःख में उसकी माता की आँखों से जो आँसू बहे उनसे समुद्र भर आये।’ माता पुत्र की मृत्यु पर जो आँसू बहाती हैं उस आँसूओं से समुद्र भर जाये। इतनी बार वह दुःख सहित मरा है।

आहा..हा..! करोड़ों रुपये हो, करोड़ों के मकान हो। आहा..हा..! है न अपने यहाँ नहीं? ‘आमोद’ ‘आमोदवाले’। ‘मुंबई’ हम लोग ठहरे थे न? अपने ‘आमोदवाले’ भाई। सत्तर लाख का एख मकान है। ‘आमोद’ है। हमारे ‘पालेज’ के पास में ‘आमोद’ है। वहाँ ‘मुंबई’ में भाई है न? इनसे यहाँ ठहरे थे न? वह मकान सत्तर लाख का एक मकान। पैसे काफ़ी, पाँच करोड़ है। आहा..हा..! कहा कि, कोई शरणभूत नहीं है बापू इसमें! बिलकुल समुद्र के किनारे है।

मुमुक्षु :- उनका मकान था तो उन्हें आपका लाभ मिला न?

पूज्य गुरुदेवश्री :- धूल भी नहीं, लाभ क्या मिले? इससे क्या लाभ मिले? वह तो शुभभाव हो तो पुण्य बंधता हैं, सो तो बंधन है। आहा..हा..! सो तो ठीक! लेकिन मैं वहाँ से यूँ समुद्र की ओर नजर करता था पास में ही समुद्र था। एक ही सत्तर लाख का मकान है। ऐसे तो कितने मकान। बड़ा गृहस्थ है। बहुत नरम आदमी है। ‘आमोद’ के अपने दिगम्बर है। यों नजर करने पर बगले, बगले दरिया में मछलियाँ पकड़ने जाते थे। अरेरे..! मैंने पुछा ये पक्षी कितनी दूरी तक जाते होंगे? भाई! हम तो कभी पहले ऐसे रहे नहीं। बीस-बीस मील की दूरी तक पक्षी दरिया में मछलियाँ खाने जाते हैं। आहा..हा..! अरेरे..! इतनी दूरी तक जायें और फिर मरकर नरक में जायेंगे। अरेरे..! उसने क्या किया? कोई समझ नहीं होती। आहा..हा..! अकेले ब्रह्मांड में परिभ्रमण किया। आहा..हा..! बाप मरकर नरक जाये, पुत्र मरकर स्वर्ग में जाये। बाप मरकर स्वर्ग जाये, बेटा मरकर नरक में जाये। कहाँ उन्हें कोई संबंध या लेना-देना है। आहा..हा..!

‘जो आँसू बहे उनसे समुद्र भर जायें। भवपरिवर्तन करते-करते बड़ी मुश्कील से तुझे यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ है...’ आहा..हा..! कल कहा था। ‘छः ढाला’ में आता है कि, त्रसपना मिलना

भी चिंतामणी समान है। 'छः ढाला' में आता है, पंडितजी !

मुमुक्षु :- 'दुर्लभ लहि ज्यों चिंतामणी, त्यों पर्याय लही त्रस तणी' (प्रथम ढाला गाथा-५)

पूज्य गुरुदेवश्री :- हाँ, वह 'छः ढाला' में आता है। त्रसपना मिलना भी चिंतामणी तूल्य कहा। मनुष्यपने की तो क्या बात करें! आहा..हा..! अरेरे..! तुझे मनुष्यपना मिला किन्तु तुझे इसकी कीमत नहीं आयी। आहा..हा..!

'परिवर्तन करते-करते बड़ी मुश्किल से तुझे यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ है, ऐसा उत्तम योग मिला है,...' आहा..हा..! 'उसमें आत्मा का हित कर लेने जैसा है।' आहा..हा..! पर के लिये न रुककर, आहा..हा..! अपना हित कर लेने जैसा है। मैं आत्मा आनंदस्वरूप हूँ। मेरे आनंद की प्राप्ति हेतु किसी भी पदार्थ की जरूरत नहीं है। मेरा सुख तो मेरे में है। मेरे सुख के लिये बाहर में कोई चीज नहीं है। स्त्री, कुटुम्ब, परीवार, लक्ष्मी, बंगला ये कोई मेरे सुख के कारण नहीं है, ये तो सब दुःख के निमित्त हैं। आहा..हा..!

सुख तो भगवानआत्मा... हिरन की नाभि में कस्तूरी है परन्तु हिरन को कस्तूरी की कीमत नहीं मालूम है जैसे भगवानआत्मा में अतीन्द्रिय आनंद का सागर (भरा पड़ा है)... आहा..हा..! इसे लेना नहीं चाहता और बाहर में भ्रमणा इसमें से, इसमें से, इसमें से..! आहा..हा..! यहाँ से सुख ले लूँ, यहाँ से सुख प्राप्त कर लूँ। लेकिन सुख है कहाँ? ये कैसी व्यर्थ चेष्टायें है तेरी? प्रभु! आहा..हा..! यहाँ लक्ष्मी न मिले तो परदेश जाता है। परदेश में पचास, साठ, साठ साल तक रह जाये जैसे वहाँ से सुख मिलनेवाला न हो। धूल में भी नहीं वहाँ। आहा..हा..!

आत्मा में आनंद है। 'ऐसा उत्तम योग मिला है, उसमें आत्मा का हित कर लेने जैसा है।' आहा..हा..! 'बिजली की चमक में मोती पिरो लेने जैसा है।' बिजली की चमक होते ही मोती

(पिरो लेना हो) वैसे यह मनुष्यभव बिजली की चमक जितने समय के लिये मिला है। पच्चीस, पच्चास, साठ साल हो गये कि देह छूट जायेगी। आहा..हा..! 'यह मनुष्यभव और उत्तम संयोग बिजली की चमक की भाँति अल्प काल में विलीन हो जायेंगे।' भाई! आहा..हा..! २५, ५०, ६०, १०० वर्ष कितना? आहा..हा..! 'अल्पकाल में विलीन हो जायेंगे।'

'इसलिये जैसे तू अकेला ही दुःखी हो रहा है,...' पर को और पुण्य-पाप को अपना मानकर 'अकेला ही दुःखी हो रहा है वैसे अकेला ही सुख के मार्ग पर जा।' आहा..हा..! भगवान अतीन्द्रिय आनंद स्वरूप है वहाँ अकेला जा। आहा..हा..! तेरी वर्तमान पर्याय को उसमें जोड़ दे। तीनलोक का नाथ आनंदकंद प्रभु आत्मा, वर्तमान पर्याय को उसमें जोड़ दे। वह सुख का पंथ है। आहा..हा..! पर्याय को राग-द्वेष और पुण्य-पाप में जोड़ने से दुःख की दशा है। आहा..हा..! कैसे माने? सबलोग करते हैं वही हमलोग करते हैं। बापू! सब लोग करते हैं वही करना इसका मतलब क्या? आहा..हा..! तुझे तो यह करना है।

राग और वर्तमान पर्याय से राग तो भिन्न है परन्तु इस पर्याय को अंतर में जोड़ना। आहा..हा..! यह कोई बात है! चैतन्य लक्षण से लक्षित जो पर्याय है, राग नहीं, दया-दान नहीं, विकल्प नहीं, सो वस्तु भिन्न है। आहा..हा..! इस चैतन्य लक्षण से जो पर्याय लक्षित है, वह जिसका लक्षण है वहाँ लक्ष को ले जा। आहा..हा..! भाषा तो जो है सो है किन्तु भाव तो बापू! आहा..हा..! स्वतंत्ररूप से करना तो यही है। 'अकेला ही सुख के मार्ग पर जा,...' इसमें किसीकी सहायता या संगाय नहीं होते। आहा..हा..! 'अकेला ही मुक्ति को प्राप्त कर ले।' आहा..हा..! मैं आत्मा आनंदस्वरूप प्रभु (हूँ)। आनंद में ऐसी दृष्टि लगा और अकेला अनुभव करके, स्थिर होकर मुक्ति को प्राप्त कर लें। आहा..हा..! वैराग्य की बातें की।



श्री परमागमसार वचनामृत-३४८-३४९-३५० पर  
पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन,  
प्रवचन नं.१७३ (दि.२-९-१९८३, भावनगर)

‘द्रव्य तो त्रिकाली और निरावरण है। पर वर्तमान पर्याय में रागादि को मिश्रित कर रखा है।’ यानी कि मिथ्यात्व की दशा में राग मेरा स्वरूप है ऐसे अपने साथ राग का मिश्रितपना मिथ्याभाव से किया है। राग ज्ञानस्वरूप हुआ हो या ज्ञान रागस्वरूप हुआ हो ऐसा तो कभी बना नहीं। वस्तुस्थिति से तो ऐसा बना नहीं। ज्ञानी ऐसा जानते हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव को विपरीत अनुभव हो रहा है। मैं स्वयं रागमय व रागरूप हो गया हूँ ऐसा उसे अनुभव वर्तता है। उस दशा के लिये ऐसा कहा कि ‘वर्तमान पर्यायमें रागादि को मिश्रित कर रखा है। तो भी...’ मिश्रित किये हैं तो भी ऐसा करके बात ली है।

ऐसी दशा प्राप्त होने पर भी, ऐसी दशा वर्तती होने पर भी अगर भेदज्ञान द्वारा यानी कि भिन्नत्व के, दोनों के भिन्नत्व के प्रकार का अवलोकन किया जाये, अनुभव किया जाये और ऐसा भिन्नत्व अनुभव करने की कुशलता हो यानी कि वैसी वहाँ कला है, इतनी Technique है ऐसा लेना। मोक्षार्थी जीव को वहाँ ‘राग की दशा की दिशा पर-ओर है और ज्ञान की दशा की दिशा स्व-ओर है।’ ऐसा देखा जाता है। ज्ञान है सो पर की ओर नहीं बल्कि ज्ञान का झुकाव स्व तरफ है। ज्ञान का वेदन ज्ञान में है, ऐसा जो ज्ञान का स्वरूप है-ज्ञान का जो स्वभाव है, उसकी दशा की दिशा उसका झुकाव स्व तरफ है। जैसा राग का ढलन है वैसा ज्ञान का ढलन नहीं है। राग जो कि पर की ओर वर्तता है वैसा ज्ञान का स्वरूप देखने में नहीं आता। दिशा

का फ़र्क दिखता है ऐसा कहते हैं।

केवल परसन्मुख ज्ञान का जो परिचय है ऐसे ज्ञान को यहाँ लक्ष में नहीं लेना है। ज्ञान की दशा ऐसा कहा तो इसमें पर की ओर झुकी हुई ज्ञान की दशा ऐसा आगे से पूर्वग्रह नहीं कर लेना है। ज्ञान की दशा के बारे में ऐसे किसी पूर्वग्रह से नहीं देखना है। यह ज्ञान तो पर तरफ जा ही रहा है न? यह ज्ञान तो पर तरफ परिणामन कर रहा है न? ऐसे नहीं। जो ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही है वह ज्ञान की दशा, उसकी दिशा पर तरफ नहीं है। ऐसा ज्ञान का स्वरूप है।

राग से भिन्न करने की यह प्रक्रिया है कि, राग से भेदज्ञान कैसे करना? अथवा राग से भिन्न कैसे होना?

राग से रहित अकेला ज्ञान है उसमें स्वपना, अपनत्व, अपनी हस्ति, अपना अस्तित्व, अपनी मौजूदगी है ऐसा देखने पर ज्ञान की दशा की दिशा स्वतरफ है ऐसा मालूम पड़ता है। ऐसे देखने में आता है। जो राग में अपनी हयाती देखता है उसे ज्ञान की दशा की दिशा भी पर की ओर मालूम पड़ती है।

दूसरे प्रकार से स्पष्ट करें तो ज्ञान की दिशा परसन्मुख है ऐसा कब मालूम पड़ता है? कि पर ऐसा जो राग उसमें अहंपना स्थापित कर रखा है, उसमें अस्तित्व का वेदन किया है, उसमें अनादि से अस्तित्व जमा रखा है उसे ज्यों का त्यों रखने पर तो ज्ञान भी आपको परसन्मुख ही लगेगा। परन्तु यह ज्ञान अकेला ज्ञान है जिसमें अपना स्वपने अस्तित्व है, उसमें अपनापन है ऐसे स्वयं

के वेदन को ज्ञान में देखने पर 'ज्ञान की दशा की दिशा स्व-ओर है।' इसप्रकार दोनों की दिशा भिन्न है। क्योंकि क्रियावान है। यहाँ दशा लेनी है न? यहाँ राग भी क्रियाशील है। ज्ञान भी क्रियाशील है। एक की दिशा स्व तरफ है दूसरे की दिशा पर तरफ है। इसतरह दोनों की दिशा में बड़ा अंतर है। जब तक यह बात तुझे लक्ष में न आये, अंदर ज्ञान में न आये, अंतरमें समझ न हो इसकी तबतक तुम्हें इसका संशोधन करना चाहिये और खोज करनी चाहिये। अन्यत्र कहीं भी परिणाम को न ले जाकर परिणाम को एक ही स्थान में, स्वरूप संशोधन में, स्वरूपशोधन में लगाने चाहिये। खोजी जीयेगा, वादी मरेगा 'बनारसीदास' इतनी हद तक कह दिया। 'खोजी जीयेगा वादी मरेगा।' इसतरह स्वरूप का संशोधक जीवन्तदशा को पायेगा और शास्त्र पढ़कर भी वादविवाद में उलझनेवाला भावमरण में पड़ता है। भावमरण करता है। द्रव्यमरण तो करेगा ही उसमें तो कोई प्रश्न ही नहीं है।

इसप्रकार अंतर में ज्ञान की पर्याय को मोड़ना। प्रज्ञाछैनी मतलब ज्ञानरूपी छैनी। जो स्पष्टरूप से अंतर में दो भाग कर देती हैं। छैनी

क्या काम करती है? दो भाग करनेका। राग से भिन्न अपना स्वरूप अंतर्मुख होकर जो ज्ञान करता है उस ज्ञान को प्रज्ञाछैनी कहते हैं। उसे प्रज्ञाछैनी कहते हैं। अंतर्मुख हुई ज्ञान की पर्याय, कि जो राग से भिन्न हो गया, उसे प्रज्ञाछैनी कहते हैं। इसके द्वारा अपनी 'भिन्नता का अनुभव हो सकता है।' प्रज्ञाछैनी पटकने से अथवा प्रज्ञाछैनी द्वारा स्वयं की भिन्नता का अनुभव किया जा सकता है। मैं ज्ञानमय तत्त्व, अकेला ज्ञानमयतत्त्व मैं हूँ। ऐसा राग से भिन्नरूप से अंतरमें अनुभव किया जा सकता है। यह मोक्ष की कला है।

इसलिये ७३३ में स्पष्ट करने के लिये ऐसा लिया कि 'स्व-रूपसे अनुभव में आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है।' ज्ञान की पर्याय जो प्रतिसमय उत्पन्न हो रही है, उदित हो रही है। ज्ञान की पर्याय का चैतन्य पिण्डमें से, ज्ञान पिण्डमें से उत्थान होता है। यह स्व-रूप में अनुभव में आता है वही आत्मा है। उसे आत्मा का अनुभव कहो, चाहे ज्ञान का अनुभव कहो, ज्ञानानुभूति इति आत्मानुभूति। यह तो १३वीं गाथा में विषय लिया है। १५ गाथा के पहले।

इस प्रकार सर्व प्रकारसे भेद-ज्ञानकी प्रवीणतासे क्या होता है ? - कि 'यह अनुभूति है, सोही मैं हूँ' ; लेकिन व्यवहार रत्नत्रयका राग है सो मैं नहीं : ऐसे आत्मज्ञान होता है । ज्ञान लक्षणसे लक्षित चैतन्यस्वभावका अनुभव होने पर 'यह अनुभूति ही मैं हूँ' ऐसा सम्यग्ज्ञान होता है । ३४९

इसी विषय को ३४९ में विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं कि, 'इसप्रकार सर्व प्रकारसे भेदज्ञान की प्रविणता से क्या होता है?' ऐसा कहते हैं कि इसतरह राग और ज्ञान के भेदपने में भेद अनुभव में भिन्न करने के प्रयास में क्या होता है? 'कि यह अनुभूति है, सो ही मैं हूँ ऐसे आत्मज्ञान होता है...' ऐसे लेना। बीचवाला वचन निकाल दो या कौंस में ले लो। यह जो वर्तमान

चल रहा राग है, विकल्प है, 'सो मैं नहीं।' इसका उसमें स्वतः निषेध हो जाता है। ऐसा विकल्प करना नहीं पड़ता। यह अनुभूति है सो मैं हूँ ऐसा विकल्प नहीं करना पड़ता। यह व्यवहार रत्नत्रय का राग अथवा चल रहा आत्मा के स्वरूप संबंधित विकल्प और राग सो मैं नहीं-ऐसे विकल्प की भी वहाँ आवश्यकता नहीं है। परन्तु उस विकल्प का जो वाच्य है ऐसा भाव

वर्तता है। यानी कि अनुभवभाव में मैं हूँ। ज्ञान तो पर ज्ञेयाकाररूप भी होता है। इसलिये ज्ञान शब्द यहाँ पर नहीं इस्तेमाल किया। परन्तु ज्ञान में ज्ञानानुभव है, ज्ञान में ज्ञानवेदन है उसे यहाँ पर अनुभूति कह दिया। यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ। यानी कि यह स्वरूप में अनुभव में आ रहा ज्ञान ही मैं हूँ। —‘ऐसे आत्मज्ञान होता है।’ आत्मज्ञान का विषय इतना ही संक्षेप में है।

शास्त्र का पाठी तर्क करेगा, कि प्रभु! आप अनुभूति है सो मैं हूँ ऐसा कहते हो परन्तु अनुभूति तो पर्याय है। जबकि हमें तो द्रव्य का अनुभव करना है।

कहते हैं कि यहाँ ज्ञानानुभूति वही आत्मानुभूति है। मात्र ज्ञान का, शुद्ध ज्ञान का अनुभव वही आत्मा है। शुद्धज्ञान ही आत्मा होने से शुद्धज्ञान का अनुभव भी आत्मा ही है। ऐसा है। वहाँ द्रव्य का आश्रय वर्तता है।—यह बात सिद्ध कब होती है? कि ज्ञानमें स्वरूप संचेतन हो, ज्ञान में स्वसंवेदन हो, तब उसे स्वरूप का आश्रय है ऐसा सिद्ध हुआ माना जाये, प्रसिद्ध हुआ माना जाये। वरना तो बहुत लोग विकल्प करते हैं, त्रिकाली सो मैं हूँ, अपरिणामी सो मैं हूँ और ध्रुव है सो मैं हूँ। ऐसा विचार नहीं करते क्या? पर्याय की बात सुनने भी राजी नहीं है ऐसा कह देंगे। ठीक!

मुमुक्षु :- अलोकाकाशमें...

पूज्य भाईश्री :- किसी की आलोचना का हेतु नहीं है। परन्तु ऐसे किसी कल्पित प्रकार से विषय को हस्तगत नहीं किया जा सकता। इसकी वास्तविकता ऐसी है कि, जब उसे वेदनगोचर करे, स्वरूप स्वसंवेदन करे, ज्ञान का स्वसंवेदन प्रगट हो कि जिसे आत्मज्ञान कहते हैं। आत्मा नाम स्वयं। स्वयं कौन? कि स्वयं ज्ञान। ज्ञान से अन्य नहीं ऐसा जो स्वयं ज्ञान। स्वयं का ज्ञान। ज्ञान स्वयं अपना ज्ञान करे वह आत्मज्ञान बस! स्वयंका वेदन करे वह आत्मज्ञान। बिलकुल संक्षेप में

बात है।

मुमुक्षु :- इसलिये साधन नहीं है?

पूज्य भाईश्री :- दूसरा कोई साधन नहीं हैं। दूसरा कोई साधन नहीं है—सो बात नहीं, दूसरा कोई साधन ही नहीं है। ऐसा ही विषय है। सो बात तो स्वाध्याय में आगे आ चुकी। शायद २३६वाँ बोल है। ४३ पन्ना। आखरी दो पंक्तियाँ हैं।

‘अतः ज्ञान से ही आत्मा की सिद्धि है, ज्ञान के अतिरिक्त आत्मसिद्धि का अन्य कोई साधन नहीं है।’ है ‘गुरुदेवश्री’ के शब्दों में? सूत्र जैसे शब्द है। ‘अतः ज्ञानसे ही आत्मा की सिद्धि है,...’ दूसरे प्रकारसे भी सिद्धि है ऐसी आशंका न रह जाये इसलिये अस्तिनास्ति से अनेकान्त कर दिया है। कि ज्ञान के अलावा आत्मसिद्धि का कोई साधन नहीं है। आत्मा की सिद्धि करनी हो तो ज्ञान के अलावा अन्य कोई साधन नहीं है।

पूरे ‘समयसारजी’ में ज्ञानमात्र... ज्ञानमात्र... ज्ञानमात्र... ज्ञानमात्र... लेने का कारण क्या है? यही कारण है, कि ज्ञान के अलावा आत्मसिद्धि का कोई साधन है ही नहीं। जहाँ १५वीं गाथा शुरू करनी है इसके पहले यही कहा। कि ज्ञानानुभूति ही आत्मानुभूति। ज्ञान एक शक्ति है, फिर भी एक शक्ति के परिणमन के साथ अनंत शक्तियों का परिणमन उछल रहा है। दूसरी शक्तियों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है फिर भी आत्मा ज्ञानमात्र को नहीं छोड़ता है ऐसा ‘समयसारजी’ की ४७ शक्ति का विवरण पूर्ण करने के पश्चात् पदरचना की है। ‘ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः’ ऐसे शब्दों का प्रयोग है।

‘इत्यादि (-पूर्व में कथित ४७ शक्तियाँ इत्यादि इत्यादि) अनेक निज शक्तियों से अच्छीतरह भरा होने पर भी...(इत्यादि-अनेक-निज-शक्ति-सुनिर्भरः अपि)’ ऐसा कहा है। ये तो ४७ कही परन्तु ऐसी तो अनन्त शक्तियाँ ज्ञान

में हैं, तो भी 'ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः' 'ज्ञानमात्रमयपने को आत्मा नहीं छोड़ता...' ऐसा कहने के पीछे प्रयोजन क्या है? ऐसा-ऐसा कहने के पश्चात् फिर से ज्ञानमात्र को नहीं छोड़ता ऐसा क्यों बारबार कहते हैं? वह इसीलिये कहते हैं। वहाँ अनेकान्त का तो प्रकरण चला है। ज्ञान से ही आत्मा की सिद्धि है इसके सिवा अन्य कोई आत्मसिद्धि का साधन नहीं है। ऐसा होने से ऐसे बात ली है।

मुमुक्षु :- सिद्धि नाम प्राप्ति ?

पूज्य भाईश्री :- सिद्धि नाम प्राप्ति। सिद्धि नाम प्राप्ति अथवा सिद्धि नाम सफलता। आत्मा की जो भी सफलता है, अनुभव करने की सफलता है, पूर्ण शुद्धि की सफलता है, स्वकार्य की सफलता है, पूर्णानन्द की अनन्त आनन्द की सफलता है, पूर्ण शुद्धि की सफलता है वह ज्ञान साधन से होती है। वहाँ साधन ज्ञान है। साध्य है सो पूर्ण शुद्धि है। शुरुआत से लेकर अंत तक यही बात ली है। शुरुआत भी यहीं से होती है। भेदज्ञान से सिद्ध हुआ जाता है यह बात 'अमृतचंद्राचार्य' ने ले ली। और संसार में भटकन का कारण भेदज्ञान का अभाव है। वरना जप-तप आदि क्रिया करनेमें तो कोई कसर नहीं छोड़ी। २४वें वर्ष में वह पद लिखा है। पद लिखा है न? अनन्तबार यह सब किया। 'सब शास्त्रन् के नय धारि हिये, मत मंडन खंडन बहुत किये।' किया है न? वन में गया, उदास हुआ, शुक्ललेश्या को धारण की है। अभवी शुक्ललेश्या तक तो जाता है, इसमें कोई बड़ी बात नहीं है।

कषाय का रस मंद होना। लेश्या में रस ही है। कषाय और कषायरस। दो को एक पर्याय में अलग देखा जाता है। यह तो जैनदर्शन का विषय ही ऐसा है। एक समय की पर्याय और इसके अनेक पहलू को पकड़े। कषाय, कषायरस, छः लेश्या में इसके छः भेद लिये। शुक्ललेश्या

अवधारण करता है। परन्तु उस शुक्ललेश्या में भी आत्मा को नहीं पहिचानता है तो वह प्रयोजन को नहीं साधता। प्रयोजन जो कि शुद्धि का है, पूर्णता का जो ध्येय होना चाहिये सो नहीं है, तो ऐसे तो शुक्ललेश्या भी अनन्तबार हो चूकी इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। अनन्त संसार ज्यों का त्यों रहा। ऐसी दशा है। उदास... उदास... उदास.. सारे जगत से उदास होकर फिरता हो। जैसे कहीं भी मन नहीं लगता हो।

जगत के पदार्थों का इतनी हद तक आकर्षण मिटा फिर भी आत्मप्राप्ति न हुई? कि, उसे अंतर में ज्ञान की जो दिशा है वह दिखी नहीं है। ज्ञानकी दिशा की दिशा जो कि अंतर्मुख है, स्व की ओर है वह उसे दिखी नहीं। अंतर्मुखता क्या है? इतना ही यदि विचार किया जाये कि यह अंतर्मुखता क्या है? कि ज्ञान जो ज्ञान का वेदन करे वह उसका अंतर्मुखपना है। ज्ञान कब ज्ञान का वेदन नहीं करता? ज्ञान में अन्य वेदन का अवकाश ही नहीं है, गुंजाईश ही नहीं है। परन्तु उसे कभी देखा नहीं। उसका जीव को अवलोकन नहीं है। यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ ऐसा आत्मज्ञान वह नहीं करता। बजाय इसके राग सो मैं हूँ और राग का विषय मैं हूँ इसप्रकार अन्य द्रव्य और अन्य भाव में वह ममत्व करता है। परन्तु जहाँ सच में खुद का अस्तित्व है, जहाँ खुदका अपने आप में अस्तित्व है वहाँ ममपना-ममत्व नहीं करता। इतनी ही भूल है। कोई लंबीचौड़ी भूल नहीं है परन्तु इतनी सी भूल है। इसी भूल के फलस्वरूप सारा संसार है।

मुमुक्षु :- ममत्व करना चाहिये वहाँ न करके अन्यत्र करने जाता है।

पूज्य भाईश्री :- खुद जहाँ पर है वहाँ अपना ममत्व नहीं करता है और जहाँ नहीं है वहाँ ममत्व करता है। यह दीक्कत है। जहाँ खुद की हस्ती, हयाती, मौजूदगी है साक्षात् हाजराहजूर है उसे

तो पूरे को छोड़ देता है। और जहाँ कुछ अपना नहीं है, अपने से शून्य ऐसा जो द्रव्य भाव है, अपने अभावस्वरूप है वहाँ कल्पना कर करके ममत्व करता है। अपनत्व की कल्पना कर करके ममत्व करता है और पर को अपनेरूप करता है। यही संसार है। यही जन्म-मरण है। यही नरक-निगोदादि भव का हेतु है, और कोई कारण नहीं है। इसका अभाव हुआ कि सर्व सिद्धि है। यह तो २८ वें वर्ष में पत्र है।

मुमुक्षु :- समझने के बावजूद भी अधिकांश जीव तो ऐसा ही कर बैठते हैं।

पूज्य भाईश्री :- समझने के बावजूद भी कर रहे हैं सो बात नहीं बल्कि नासमझ होने से कर रहे हैं। समझने का उनका दिखाव वह उनका सही स्वरूप नहीं है। नासमझी से कर रहे हैं। क्योंकि ममत्व करते हैं उसका अर्थ कि वहाँ उनकी समझ नहीं है। समझ होने से तो करे ही नहीं। सीधी बात है। फिर जो करता है इसमें समझदारी क्या मानना? राग और राग के विषय में स्वपना का वेदन करे उसे समझदारी क्या कहना? यह सवाल है। आत्मज्ञान की यह परिभाषा है। अध्यात्मप्रधान एवम् एकदम संक्षेप में। कोई शास्त्रीय परिभाषा के बड़े-बड़े लंबे-चौड़े शब्द। अंग्रेजी में उसे बोम्बास्टिक वर्ड कहते हैं। आदमी को इससे थोड़ा प्रतिभाव जमाना होता है, ऐसा कुछ नहीं। यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ ऐसे आत्मज्ञान होता है। ज्ञान का ज्ञान, ज्ञानका ज्ञान को वेदन, बस इतना ही आत्मज्ञान है। वही अंतर्मुखज्ञान है। वही स्वसन्मुख ज्ञान है। इसके अलावा कोई लंबी बात है नहीं।

‘लेकिन व्यवहार रत्नत्रय का राग है...’ यानी कि ऊँचे से ऊँची कोटि का राग ‘सो मैं नहीं- ऐसे आत्मज्ञान होता है।’ क्योंकि अपने में जो नहीं है उसका नहीं होनेरूप ज्ञान होता है। ‘ज्ञानलक्षण से लक्षित...’ ऐसा लिया। वहाँ

से इसतरह अनुभूति में आरूढ़ होता है। अनुभूति पर कहाँ से आरूढ़ होता है? अनुभूति का आविर्भाव कहाँ से करता है? कि ‘ज्ञानलक्षण से लक्षित चैतन्य स्वभाव का अनुभव होने पर ‘यह अनुभूति ही मैं हूँ’ - ऐसा सम्यग्ज्ञान होता है।’ ऐसे सम्यग्ज्ञान होता है ऐसा कहो या ऐसे आत्मज्ञान होता है ऐसा कहो।

‘ज्ञानलक्षण से लक्षित...’ ज्ञान के एक चिह्न से। लक्षण नाम एक चिह्न से। पूरा ज्ञानमय परिपूर्ण लक्ष्यरूप आत्मा चैतन्य स्वभाव, उसका आश्रय होता है तब उसका अनुभव होता है ऐसा कहा जाता है। ‘चैतन्यस्वभाव का अनुभव होनेपर यह अनुभूति ही मैं हूँ...’ चैतन्यस्वभाव के अनुभव में क्या वेदन हुआ? कि, ‘यह अनुभूति ही मैं हूँ - ऐसा सम्यक्ज्ञान होता है।’ मैं... मैं... मैं... मैंने अपनी हयाती किसमें हो रही है? राग में हो रही है? कि, ज्ञान की क्रिया में हो रही है? राग की क्रिया में होती है या ज्ञान की क्रिया में होती है? जिसके लक्ष्य में ज्ञानलक्षण से पूरा आत्मा रहा है, उसे आत्मज्ञान इसप्रकार होता है कि, यह ज्ञानानुभव सो मैं हूँ। यह अनुभूति है सो मैं हूँ। ऐसा उसको आत्मज्ञान होता है।

मुमुक्षु :- पूरा आत्मा...

पूज्य भाईश्री :- पूरा आत्मा लक्ष्यगत होता है। जैसे एक शक्कर की बोरीमें से Sample लेने के बाद पूरी बोरी शक्कर से भरी है ऐसा लक्ष्यगोचर होता है। पदार्थ का एक अवयव देखने पर पूरा पदार्थ ज्ञानमें आता है। घरमें छिपा हुआ चोर, इसकी एक अँगूली दिख जाये, हाथ या पैर की एक अँगूली दिख जाये, तो पूरा चोर उसने देख लिया। लेकिन उसका चेहरा देखे बिना कैसे पता चला कि यह चोर है? कोई ऐसी बहेस में नहीं जाता, तर्क नहीं उठाता है। यह किसीको समझाने की आवश्यकता नहीं रहती। घर खोल दिया। बंद



था जो घर उसे खोल दिया, फिर छिपकर खड़ा है, तो इसका मतलब ही वह चोर है। ताला लगाकर बाहर बाजार में गये हो। घर आकर देखे तो ताला नहीं है और दरवाजा खुला हुआ है। घरमें कोई नहीं है। कोई नहीं दिखता लेकिन कोई होना चाहिये। यह खोला किसने? ऐसे में किसी छूपे हुए आदमी का कोई अवयव दिख जाये सर के बाल दिख जाये। तो पूरा आदमी उसने देख लिया। कैसे लक्ष्य में लेता है? एक चिन्ह पर से कैसे पूरी चीज लक्ष्य में आ जाती है न? कि, मतिश्रुत ज्ञान में ऐसे लक्षण पर से लक्ष्य करने का सामर्थ्य है। लक्षण पर से पूरे पदार्थ का लक्ष्य करने का सामर्थ्य मतिश्रुत ज्ञान में है। मतिश्रुत ज्ञान में ऐसी शक्ति है। तिर्यच पकड़ लेता है। यह ज्ञान पर से पूरा ज्ञानमय आत्मा हूँ ऐसा तिर्यच भी लक्ष्य में ले लेता है। नहीं लक्ष्य में आने का प्रश्न ही कहाँ है? अच्छीतरह से आ सकता है - ऐसा विषय है। जीव को मोक्षार्थी होना चाहिये इतनी बात अवश्य है।

आपको चाहिये तो संसार और फिर भी आपको संसार रहित स्वरूप लक्ष्य में आयेगा सो बात नामुमकिन है। चाहिये तो संसार, संसार की चाहत मतलब अन्य द्रव्य और अन्य भाव की चाहना व अभिलाषा और संसार से परिमुक्त ऐसा जो तत्त्व है उसे ज्ञान में लेना है। ऐसी संसार की चाहनायुक्त ज्ञान मलिन है, रंजित है। राग-द्वेष और विभाव से रंजित, सराबोर हुआ ज्ञान, डूबा हुआ ज्ञान, विभावरस में डूबा हुआ ज्ञान, सारे संसार से मुक्त ऐसे शुद्धात्मा को कहाँ से लक्ष्य में ले सकेगा? आपको वह लक्ष्यगत नहीं हो सकेगा।

जिसे केवल आत्मा ही चाहिये और संसार यानी कि दुःख मात्र नहीं चाहिये, कषाय का अंश भी नहीं चाहिये, इसीलिये तो मोक्षार्थी की बात ली है। योगानुयोग शब्द कैसा आया है! किसको ऐसा दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य प्रगट करना? तीन बोल

लेंगे न? ऐसे आत्मज्ञानपूर्वक उदित हुआ जो श्रद्धान। ऐसे ज्ञान और श्रद्धान से जिन्हें स्वरूप में स्थिर होने का सामर्थ्य प्रगट हुआ है ऐसा जो चरित्र। ऐसे तीन बोल लेंगे इस एक गाथा में। ऐसा जो हुआ है उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य प्रगट हुआ है।

ज्ञानवेदन स्वसंवेदनरूप से आविर्भूत होता है। आविर्भूत होता है मतलब उसकी तारतम्यता बढ़ती है। तारतम्यता बढ़ती है तब स्वसंवेदन के काल में रागादि का अभाव होता है। यानी कि ज्ञानवेदन को जो रागवेदन बाधारूप था सो तो वहाँ है नहीं। obstacle दूर हो गया। रागवेदन के आविर्भाव में ज्ञानवेदन तिरोभूत हो गया था। दूर हो चूका था। वह बाधा तो दूर हो गई। राग का परदा तो हट गया। केवल ज्ञानवेदन रहा सो बात नहीं, ज्ञानवेदन आविर्भूत हो गया। उग्र हो गया तब। दो प्रकार से प्रगट अनुभव हुआ। एक तो वेदन उग्र हो गया, इसलिये उसकी प्रगटता विशेष स्पष्टरूप से अनुभव गोचर हुई। दूसरा इस वेदन को बाधारूप जो रागवेदन है वह उधर नहीं होता फिर। निर्विकल्प शुद्धोपयोग के काल में बुद्धिपूर्वक के राग की उत्पत्ति तो होती नहीं। तब उसे स्वसंवेदन होता है ऐसा कहने में आता है। अथवा तब उसे आत्मज्ञान होता है ऐसा कहा जाता है।

दोनों एक साथ हैं। लक्ष्य त्रिकाली पर है, लक्षण पर है। और अनुभूति है सो मैं हूँ ऐसा ज्ञान का वेदन है। ऐसे प्रकार को सम्यक् प्रकार ऐसा कहा जाता है। परिणमन के ऐसे प्रकार को सम्यक्प्रकार कहा जाता है। यद्यपि सम्यक् का अर्थ ही स्वाभिमुखता है। संस्कृत शब्द है। अपनी सन्मुख बताना हो तो वहाँ सम्यक् शब्द द्वारा दरशाया जाता है। अभी तो वैसी भाषा का प्रयोग नहीं चलता परन्तु संस्कृत में किसी को वार्तालाप करना आता हो तो आप मेरे सामने आईये, मेरी सन्मुख हो जाईये। इधर-उधर खड़े हो तो सामने

आ जाईये, ऐसे सन्मुख आने को कहना हो तो कहने में सम्यक् शब्द का प्रयोग करना पड़े।

मुमुक्षु :- सम्यक् नाम भिन्न...

पूज्य भाईश्री :- दिशासूचक है। स्वाभिमुखता उसमें दिखानी है। बचपन में RSS में जाते थे। वहाँ सब ओर्डर संस्कृत में दिये जाते हैं। हिन्दु प्रणालिका पर आधारित है न पूरा? इसलिये अग्रेसर था। इधर-उधर सब खेलनेवाले को बुलाना हो, लाइन में खड़े रखना हो तो 'अग्रेसर सम्यक्' ऐसा कहेंगे। 'सम्यक्' शब्द उन दिनों दस साल की उम्र में सुना था १०-११ वर्ष की उम्र थी। 'सब लोग सामने आये' जो बोलते हो उसके सामने आकर सब लोग खड़े हो जायेंगे। यह 'सम्यक्'

मतलब स्वाभिमुख होना वह। ज्ञानस्वरूप की स्वाभिमुखता यानी कि सम्यक्।

इसीतरह दर्शन स्वरूप के स्वाभिमुख होता है, स्वअभिमुख होना वह सम्यक् है। इसीतरह चारित्रगुण स्वरूप के सन्मुख हो वह सम्यक् है। अनन्त गुण स्वरूप के सन्मुख होते हैं अथवा स्वरूप में निमग्न होते हैं ऐसा कहो, वह उसकी सम्यक्दशा है। वह पूरे द्रव्य की सम्यक्दशा है। पूरा द्रव्य सम्यक् रूप से परिणमन करता है मतलब कि द्रव्य के सभी गुण सम्यक् रूप से, परिणमन करने लगे। ऐसा कहा। 'ऐसे सम्यग्ज्ञान होता है।' यह ३४९ बोल पूरा हुआ।

यह मनुष्यभव मिला है सो भवका अभाव करनेके लिए मिला है, पैसा कमाने के लिए यह भव नहीं मिला, इसीलिए मृत्युके पूर्व ही आत्मकल्याणका यह कार्य कर ले । ३५०

३५० बोल।

'यह मनुष्यभव मिला है सो भव का अभाव करने के लिये मिला है, पैसा कमाने के लिये यह भव नहीं मिला...' 'गुरुदेवश्री' को मस्का लगाना तो आता नहीं था। पैसेवाले सामने बैठे हो, उन्हें कहते थे कि, पहले नक्की करो कि, ये पैसे में सुख नहीं है। फिर आपका नंबर यहाँ पर लगेगा। इसके पहले तेरे नामकी यहाँ नोंध नहीं करते। भले ही तू आकर बैठा हो। कोई बात नहीं, सुन अब। परन्तु नाम लिखाने के लिये तो पहले तुझे नक्की करना पड़ेगा कि पैसे में सुख नहीं है। यह बोले आगे आ चूका। तोप के गोले जैसी वाणी है। बायने हाथ पर ठीक बीच में आता है। नंबर याद नहीं है।

मुमुक्षु :- २२८, पन्ना ४२.

पूज्य भाईश्री :- २२८. 'जब तक अन्तर में पुण्य ऐसा नहीं भासित होता कि पैसे में सुख नहीं है,...' पुण्य के उदय में सुख नहीं

है। पुण्य के उदय के उपभोग के काल में उत्पन्न पापभाव में सुख नहीं है। 'अन्तर में ऐसा नहीं भासित होता... तब तक आत्मसुख के लिये पुरुषार्थसा नहीं होता।' वहाँ से पीछे हटेगा ही क्यों? पैसे और पुण्य-पाप में सुख लगता हो तबतक पीछे हटेगा ही क्यों? जबकि यहाँ तो अंतर में कुदना है।

जैस कोई जोर से प्रज्वलित आग में कूद जाये उसे साहस कहते हैं न? मकान जलता हो उसमें से कूद जाये। कोई महत्वपूर्ण चीज को पाने के लिये जान का जोखिम ले ले तो उसे साहस कहते हैं, पराक्रम कहा जाता है।

यहाँ दूसरी बात है। यहाँ तो जीव अंतर में चैतन्यज्योति में कूद पड़ता है, सुख के लिये कूद जाता है। वह कब सम्भव है? कि ये पैसे और पुण्य-पाप में सुख नहीं है ऐसा अंतर से प्रतिभासित होवे तो। इसके सिवा किसी भी उपाय से आत्मा बाहर से अंतर की ओर पीछे मुड़नेवाला

नहीं है।

यह एक मोक्षार्थी जीव का अंतरंग परिणाम का विषय है। क्या उसका विषय है? कि 'यह मनुष्य-भव मिला है सो भव का अभाव करने के लिये मिला है...' ऐसा जीव के अंतरंग परिणाम में आता है। मैं मनुष्य क्यों हुआ? पैसा कमाने के लिए हुआ हूँ? किस लिये हुआ हूँ? ये सब इकट्ठा करने के लिये हुआ हूँ? क्यों हुआ हूँ? कि नहीं। 'यह मनुष्यभव...' यह मतलब विद्यमान मनुष्यभव 'भव का अभाव करने के लिये मिला है,...' भीतर में ऐसी एक अंतरंग भावना उत्पन्न होती है। मोक्षार्थी जीव के अंतरंग परिणाम का यह एक लक्षण है।

अंतरंग परिणाम का विषय बहुत विशाल है, विस्तारयुक्त है। परन्तु इसका यह एक खास चिह्न है, जो कि सहजरूप से 'गुरुदेव' के प्रवचन में आ गया है। मोक्षार्थीजीव को ऐसा अंदर में लगा करता है। विचार आता है ऐसे नहीं। विचार आना एक बात है और लगना दूसरी बात है। उपर-उपर से विकल्प आने की बात नहीं है। परन्तु अंतर में उसे ऐसा लगे कि, यह मनुष्यभव तो अनन्त भव का नाश करने के लिये (मिला है)। अभी यह मनुष्यभव उदय में है और जिसमें आत्मा का कल्याण करने के लिये जागृति उत्पन्न हुई है, मेरी इस वर्तमान जागृति से ऐसा भासित होता है कि यह भव अनन्त भव का अभाव करने के लिये आया है। ऐसा अंदर में विलक्षण, प्रकार खड़ा होता है। ऐसा विलक्षण प्रकार अंतर परिणाम में उत्पन्न हुआ है। उसे वर्तमान और भविष्य की चिंता नहीं होती। लीजिये ठीक।

सवाल यह खड़ा होगा कि अगर इस भव में केवल भव के अभाव का कार्य कर लेने में लग जाये तो फिलहाल जो कर रहे हैं इसकी सावधानी छूट जायेगी, सावधानी छूट जायेगी तो कार्य सम्पन्न नहीं होंगे, तो अभी तो इतना हरजा

नहीं है लेकिन भविष्य का क्या?

भाई! तू भूलावे में पड़ा है। तेरी संयोग प्रत्ययी सावधानी को लेकर तेरा भविष्य सुरक्षित मानते हो तो तुम बहुत बड़े धोखे में हो।

मुमुक्षु :- सब ने ध्यान रखा।

पूज्य भाईश्री :- सब ध्यान रखते ही हैं। ध्यान रखने के अलावा किसीको कुछ नहीं आता है। जगत के तमाम संसारी प्राणी केवल संयोगों को सुरक्षित करने में और संयोगोंकी वृद्धि करने में लगे हुए हैं। भूँड से लेकर चक्रवर्ती तक कोई इसमें से बाहर नहीं है। 'श्रीमद्जी' ने भूँड और चक्रवर्ती की बराबरी की है कि दोनों एक से हैं। यानी कि संसार के सभी प्राणी, 'वधता वैभवना व्यवसायी' हैं। 'व' का Alletration किया है व... व... 'गुरुदेवश्री' ने ध-धा किया था। ध्रुव की धुनी धखानेवाला धगशवाला धर्मी है। सब में ध... ध... ध... लेते थे। यहाँ व लिया है। 'वधता वैभवना व्यवसायी' (संयोग वृद्धिगत करने में सब लगे हैं) है। सब लोग क्या व्यवसाय में लगे हैं? कि मेरा संयोग अच्छीतरह वृद्धिगत हो जायें। और किसी को तृप्ति होती ही नहीं है। सब अधूरा... अधूरा ही लगा करता है।

पहले के जमाने में बहुत पुण्यवंत राजा थे तो भी यहाँ अभी भी एक जगह मकान नहीं बनवाते। एक यहाँ हवा खाने का मकान, यहाँ इस कार्य के लिये मकान, यहाँ उस कार्य के लिये मकान। अरे..! लेकिन क्या है तुझे? ये ५०-१०० साल की जिंदगी में, इसी से बाहर नहीं निकल पायेगा तो डूब जायेगा, ऐसा कहते हैं। इसीमें डूब जायेगा। काल निकलता जा रहा है मतलब मौका हाथ से जा रहा है। जो भव भव के अभाव हेतु मिला है उस भव को संयोग की वृद्धि के पीछे व्यतीत कर दिया जाये तो इसके बराबरी में कोई बड़ी भूल नहीं है। या दूसरी कोई मूर्खता इसके जैसी नहीं है। भूला कहो या

मूर्खता कहो।

‘पैसा कमाने के लिये यह भव नहीं मिला।’ पहले थोड़ा ये कर लूँ। साल-दो साल बाद में करूँगा। कहते हैं कि बादमें... बादमें.. बाद में... इस पर जाता है इसका अर्थ ही ऐसा है कि वह बात को टाल रहा है। वर्तमान कर्तव्यरूप कार्य को पीछे टाल रहा है। इसलिये मलिनतायुक्त ना देता है। स्पष्टरूप से ‘ना’ नहीं कहकर मलिन ‘ना’ देना उसे मलिन ‘ना’ कहते हैं। मल सहित ‘ना’। वह क्या कहेगा कि अभी नहीं। अभी नहीं इसका अर्थ क्या हुआ? वैसे स्पष्ट ‘ना’ नहीं कहता परन्तु मलिनतायुक्त ‘ना’ करता है।

मुमुक्षु :- स्वरूप की चाह मिटानेवाला बहिरात्मा है।

पूज्य भाईश्री :- अरुचि। अरुचि वहाँ बता दी। उसे अरुचि हो गई है। कोई ऐसा कहे कि यह बात बहुत ऊँची है लेकिन अभी संभव नहीं है। अभी तो पहले इतना मैं कर लूँ। ऐसा करूँ... एसा करूँ... बाद में हो सकता है। कहते हैं कि इस काल में स्वरूपप्राप्ति कठिन है ऐसा कहनेवाला, ऐसा बतानेवाला, स्वरूप की चाह मिटानेवाला बहिरात्मा है। परन्तु बहिरात्मा तो सबलोक हैं प्रभु! इसको आपने इतना कठोर क्यों कह दिया? सिर्फ थोड़ी देर से, कुछ समय बाद करने की बात करता है। जो इस कार्य को कठिन बता रहा है वह दूसरी तो बहुत सी क्रिया कर रहा है। सिर्फ स्वरूप प्राप्ति की क्रिया को थोड़ी मुश्किल बता रहा है, इतनी सी बात में उसे स्वरूप की चाह मिटानेवाला बहिरात्मा ऐसी मोहर लगा दी? Label लगा दिया? सारे जगतमें बहुत से बहिरात्मा हैं इनका ही क्यों कहते हैं? ये तो बेचारा कुछ अंश में भावना भी रखता है।

कहते हैं कि, इसके सामने यह विषय आया, स्वरूप प्राप्ति का विषय दूसरे प्राणियों के सामने नहीं आया जबकि इनके सामने आया तब वह

उसकी उपेक्षा करता है। चालाकी से, मलिन भावपूर्वक मलिन ‘ना’ देता है। कि इसको तो तीव्र बहिरात्मपना है। बहिरात्मा तो दूसरे सब हैं। परन्तु यहाँ तीव्र बहिरात्मपना है। यह इसकी तीव्रता का सूचक है। इसलिये उसे कहते हैं कि वह स्वरूप की चाह मिटानेवाला बहिरात्मा है। अरे भाई! सातवीं नारकी का नारकी सम्यक्दर्शन प्राप्त कर लेता है और तू यहाँ कठिन बता रहा है कि मुझे अनुकूलता नहीं है, अभी इतनी अनुकूलता बढ़ लूँ बाद में मैं कर लूँगा। इसके पहले नहीं हो सकेगा। तेरी बात सही नहीं है।

मुमुक्षु :- सच्ची ना...

पूज्य भाईश्री :- है कि नहीं लेकिन? प्रसिद्ध बात है। ये पैसे की बात इसलिये की है क्योंकि जीव वहीं पर लटका है। पूरा का पूरा एक ही कार्य के पीछे लग जाता है उसे ऐसा कहते हैं कि, भाई! भव के अभाव हेतु जो काल मिला है इसका इस्तेमाल तू उसी कार्य में कर नाकी दूसरे प्रकार से कर। बाकी तो जो कर्मप्रसंग हैं, कर्म के उदय हैं वे अपने स्वकाल में, क्रमशः जैसे आनेवाले हैं वैसे ही आनेवाले हैं। यह जानकर इसकी उपेक्षा क्यों नहीं करता? ऐसा कहते हैं।

‘इसलिये मृत्यु के पूर्व ही...’ मृत्यु के पहले, आयु पूर्ण होने से पहले। मृत्यु के पहले का अर्थ ऐसा है। वर्तमान मनुष्यकी आयु पूर्ण होने से पहले। तू पूरा नहीं हो जायगा परन्तु अगर यह कार्य नहीं किया होगा तो ऐसी गतिमें जायेगा कि जहाँ इस विषय में विचार तक नहीं उत्पन्न होगा। जब इसका विचार करने की तक मिली वहाँ तुने उपेक्षा की, तो अब आगामी गति में इसका विचार करने का मौका भी नहीं मिलेगा। विचार भी उत्पन्न नहीं होगा कि, आत्मकल्याण जैसा कोई कार्य मुझे करना है या नहीं? और प्रायः ऐसा देखा गया है, तिर्यच प्राणी तो ठीक परन्तु बहुभाग मनुष्यप्राणी भी प्रायः केवल प्राप्त

उदय के पीछे इसकी जानी हुई, मानी हुई, स्वीकार की हुई, कल्पित जरूरतों को पूर्ण करने के पीछे पूरे भव का, प्रायः उसका पूरा समय व्यतीत करता है। जगत की दूसरी क्या स्थिति है? कि, पूरा समय इसीमें जाता है। यह चाहिये... यह चाहिये... यह चाहिये... फिर यह चाहिये। ऐसे ही मनुष्य आयु पूरी हो जाती है। फिर तो इसका विचार भी नहीं जागृत होगा ऐसी परिस्थिति खड़ी हो जायेगी। अगर जागृत होकर इस दिशा में संवेगपूर्वक प्रगति नहीं की और साथ में उदय की उपेक्षा नहीं की, तो इसकी उपेक्षा का फल ऐसा आयेगा कि इसका विचार भी तुझे नहीं आयेगा। विचार भी नहीं आयेगा। अनन्त जीवों को विचार नहीं आ रहा है ऐसे ही तुझे भी विचार नहीं आयेगा। विचार भी नहीं आयेगा तो आगे की बात का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।

‘इसलिये...’ मनुष्य आयु पूर्ण होने के पहले। मृत्यु का अर्थ ऐसा है। तेरा नाश होगा ऐसा नहीं कहते। नाश तो कोई भी आत्मा का नहीं होता परन्तु मनुष्य आयु पूर्ण हो इसके पहले ‘आत्मकल्याण का यह कार्य कर ले।’ यानी कि भवके अभाव का छेदक ऐसा जो सम्यग्दर्शन है, भव के अभाव का छेदक ऐसा जो आत्मानुभव है, वह आत्मकल्याण का कार्य तू सर्व प्रथम इसे अग्रता क्रम देकर, Priority देकर उसे प्रथम कर ले वरना फिर यह कार्य रह जायेगा और दूसरा तो तेरा पूरा कभी होनेवाला है नहीं।

सामान्यतः संसारी प्राणी मर रहा हो उसे पुछा जाये कि, तेरे कितने कार्य बाकी हैं? तो कहेगा कि अभी तो सौ के सौ यानी कि सारे के सारे कार्य बाकी है। तो सारी जिंदगी तुने क्या किया? सौ के निन्यानवे भी नहीं हुए? सारी जिंदगी तो तुने मजदूरी की फिर भी कहता है कि सौ के सौ कार्य बाकी है। अभी सारे के सारे बाकी हैं? उसे कहीं भी पूरा नहीं होता।

सब बाकी हैं ऐसा ही लगा करता है। उसे ऐसा कहते हैं कि, भाई! ये बहुत बड़े धोखे में पड़ा है। जैसे भूलभूलैया में आदमी भुलावे में पड़ता है, वैसे यह संसार की अटवी है। जीवको अपना कल्याण करने की, भव का अभाव करने की भावना; भव का अभाव कहो या मोक्ष कहो या मोक्षार्थीपना कहो। शब्द अलग अलग है, भाव तो एक ही है। ऐसी भावना उत्पन्न हुए बिना कोई कार्य अपने हित सम्बन्धी हो नहीं सकता। हित सम्बन्धित जो कार्य करना है वह सब फिर धर्म के क्षेत्र में और धर्म के बहाने जितना होगा सब व्यर्थ परिश्रमरूप होता है। यह एक नीव की बात डाल दी है। वरना जीवों धार्मिक क्षेत्रमें नहीं जाते हैं या धार्मिक क्रियाएँ नहीं करते हैं सो बात नहीं है। परन्तु मोक्षार्थी हुए बिना जो कुछ भी किया जाता है वह सब उलटे घड़े पर सारे उलटे घड़े हैं। एक भी घड़ा उसका सुलटा नहीं रहता। यानी कि उसका सब उलटा। जितना भी करे सब उलटा। लाभ होने के बजाय मिथ्यात्व दृढ़ होने का कारण हो जाता है। धर्म की क्रिया - चाहे त्याग की क्रिया चाहे ज्ञान की क्रिया। दो क्रियाएँ हैं। ये दोनों उसका मिथ्यात्व दृढ़ होने में कारणभूत होती हैं। क्योंकि वह मान लेता है कि ऐसी क्रिया का करनेवाला मैं धर्मी हूँ। कहते हैं कि तू मिथ्यात्व को दृढ़ करनेवाला है। ऐसा होता है। क्योंकि संसार से मुक्त होने का एकमात्र उपाय वह आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान के बिना कोई संसार में भूतकाल में मुक्त हुआ हो, या वर्तमान में मुक्त होता हो, या भविष्यमें मुक्त हो जायेगा, ऐसा तीनकाल में सम्भव नहीं है। इसमें तो दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। यह विषय यहाँ ‘समयसारजी’ की १७-१८ गाथा में बहुत सुस्पष्टरूप से प्रस्थापित हुआ है। अभी तो ३५४ तक के बोल इसी पर है। यहाँ तक रखते हैं।

**पूज्य भाईश्री द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथमें से  
कुछएक वचनामृत**

मुमुक्षुजीवको इस कालमें संसारकी प्रतिकूल दशाओंका प्राप्त होना वह तो उसे संसारसे तिरनेके बराबर है। अनंतकालसे अभ्यासित ऐसे संसारके बारेमें स्पष्टरूपसे विचार करनेका वक्त प्रतिकूल प्रसंगमें विशेष होता है - श्रीमद्जी। प्रतिकूलताके वक्त आत्महितके प्रति चित लगना, वह पात्रताका लक्षण है। (१४)



जिसको परिपूर्ण निर्दोष होना है - ऐसे मुमुक्षुजीवको व्यवहारमें - उदयप्रसंगोंमें भी, आरंभ - परिग्रह व अनीति इत्यादिसे दूर होनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहना जरूरी है। जिससे कि बोधप्राप्तिका प्रतिबंधक रस वृद्धिगत नहीं हो। अर्थात् उपदेशादिका निष्फलपना नहीं हो। 'ज्ञानकी बीजभूत-भूमिकामें उदयके प्रति निरसभाव, सरलतादि उत्पन्न होते हैं; जिससे कि सिद्धांत ज्ञानका परिणमन संभवित हो।' जागृतिके कारण उदय प्रसंगमें रस नहीं आये, यही इस भूमिकाके वैराग्य व उपशम हैं। और तभी उदयप्रसंगोंमें रस नहीं आता जब अंतर सुविचारणाके कारण सांसारिक प्रसंगोंका माहात्म्य नहीं आता हो। (१५)



विभावरस ही चित्तको मलिन करता है कि जिसके कारण सत्पुरुषोंके वचनोंका यथायोग्य विचार नहीं हो सकता है। आत्मरस - चिद्रस उत्पन्न होने पर चित्तकी विशुद्धि है कि जिसके कारण महापुरुषोंके वचनोंका भाव यथातथ्य भासित होता है। जिन वचनोंका आधार अनंतगुण निधान ऐसा परमसत् है, उन्हें नमस्कार हो !! (१६)



सम्यक्श्रद्धान वह निर्मल आत्मपरिणाम है जो कि संयमकी वृद्धिका कारण है।-(श्रीमद्जी) (१७)



परम पवित्र परमात्माके अंतर अवलंबनमें शुद्ध आत्मस्थिति होती है - हो जाती है। ऐसे महात्माको बाह्य अवलंबनमें "पारमार्थिक श्रुत" और इन्द्रियजय / वृत्तिजयकी सुदृढपने उपासना होती है।-(श्रीमद्जी) (१८)



परिणाममें मंद पुरुषार्थ हो तब महापुरुषोंके अद्भुत आचरणको स्मरणमें लेना योग्य है - अतः सहज ही मंद परिणाम मिटे और वीर्योल्लास बड़े। (१९)



निवृत्तिमें निजहितके उपयोग (सावधानी / लक्ष्य) पूर्वक सत्श्रुतके अध्ययनसे आत्मभावकी पुष्टि करना। (२०)



द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथमें से दृष्टि के परिणमन और दृष्टि के विषय पर पूज्य श्री सोगानीजी के वचनामृत



आखी वस्तु (प्रमाण का विषय) बताने में नित्य और अनित्य बताने में आता है; इसमें अनित्य अंग दूसरे (द्रव्य) का नहीं है, ऐसा बताने के लिए है। परंतु दृष्टि का विषय तो 'नित्य ही हूँ' है, और अनित्य मेरे से भिन्न ही है। उसका (उत्पाद-व्यय का) भाव और मेरा (ध्रुव का) भाव विरुद्ध है।

७५.



शक्ति की तरफ़ देखे तो इतना भारी-भारी लगता है कि संपूर्ण जगत् फिर जावे तो भी वह (अनंत शक्तियों का पिण्ड) नहीं फिर सकता है, ऐसा घनरूप है; उसमें कुछ विचलितता ही नहीं होती।

७६.



दर्पण में जो पर्याय दिखती है, वह तो ऊपर-ऊपर है, अंदर में जो दल पड़ा है वह तो जैसा का तैसा है, वह पर्यायरूप होता ही नहीं। - ऐसे त्रिकाली स्वभाव का दल वैसा का वैसा ही है, पर्याय में आता ही नहीं।

७८.



प्रश्न :- चौथे गुणस्थानवाले को वस्तु का अनुभव है और स्थिरता का प्रयत्न भी करता है फिर भी अनुभव में काल क्यों लगता है ?

उत्तर :- चारित्र्य की पर्याय में इतनी अस्थिरता है, पुरुषार्थ की कमी है; पर्याय की ऐसी योग्यता है, लेकिन दृष्टि में उसकी गौणता है। 'वर्तमान में ही पूर्ण हूँ' - इसमें पर्याय की कमती - बढ़ती गौण है।

९५.



अरे भाई! तू अपने सारे के सारे असंख्य प्रदेश में चैतन्यमूर्ति हो, उसीमें बैठे रहो न! उठकर कहाँ जाते हो?

११५.



शुभराग को कर्तव्य मानने की तो बात ही कहाँ? 'मेरा' तो कोई कर्तव्य ही नहीं, ऐसा पहले पक्का होना चाहिए। (ध्रुव में कर्तव्य कैसे हो सकता है ? 'मैं तो ध्रुवतत्त्व हूँ।') १५९.



इधर (स्वद्रव्य में) दृष्टि जम गयी.... बस, वही मुक्ति है; मुक्ति करनी नहीं है। १६१.



वस्तु वर्तमान में प्रत्यक्ष स्थित है, वर्तमान में ही विद्यमान है। एक समय की पर्याय के पीछे पूर्ण वस्तु स्थित है; लक्ष्य करे उसी क्षण दिख जाती है। (अर्थात् वेदन में आ जाती है।) १८०.



'वर्तमान में ही कृतकृत्य हूँ' - ऐसी दृष्टि अपनी वस्तु में हुयी, तो करूँ...करूँ - ऐसी कर्तृत्व बुद्धि छूट गयी.... बस ! यही मुक्ति है।

१९१.

## पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- चौथे गुणस्थानवाला निर्विकल्पदशामें हो और पाँचवें गुणस्थानवाला सविकल्पदशामें हो, तो आनन्दका विशेष वेदन किसे होता है ?

समाधान :- निर्विकल्पदशामें आनन्दका वेदन अलग ही होता है, उसकी तुलना सविकल्पके साथ नहीं की जा सकती। तुलना तो सविकल्पके साथ सविकल्पकी की जाती है; निर्विकल्प-सविकल्पकी तुलना ही नहीं होती। चौथे गुणस्थानकी सविकल्पदशाकी अपेक्षा पाँचवें गुणस्थानकी सविकल्पदशामें शुद्धि-निर्मलता-शान्ति-समाधि विशेष होती है। सविकल्पके साथ सविकल्पकी और निर्विकल्पके साथ निर्विकल्पकी तुलना की जाती है। यदि निर्विकल्प सविकल्प जैसा हो गया तो निर्विकल्प कोई अलग रहा ही नहीं; निर्विकल्प स्वानुभूतिका कोई अन्य प्रकार ही नहीं रहा; या पाँचवें गुणस्थानका सविकल्प और चौथे गुणस्थानका निर्विकल्प दोनों एक जैसे हैं ऐसा नहीं होता। निर्विकल्पदशा कोई अलग रही ही नहीं। ज्ञानीको सविकल्पमें रागकी आकुलताका वेदन तथा साथ ही शान्तिका वेदन वर्तता है; और निर्विकल्पदशामें मात्र आनन्दका वेदन वर्तता है, इसप्रकार तफावत है। जिसमें आकुलता बिलकुल अबुद्धिपूर्वक है उसका स्वयंको खयाल भी नहीं आता; (निर्विकल्पदशामें) एकमात्र अपने आनन्दका वेदन रहात है, अकेली निराकुलता, अकेले आनन्दका वेदन होता है। ऊपरकी भूमिकावालेको सविकल्पमें भले ही शान्ति विशेष हो, परन्तु आकुलता एवं निराकुलता दोनों मिश्रित हैं। वह मिश्रित वेदन और मात्र निर्विकल्पवेदन, उनमें

अन्तर है।

मुमुक्षु :- दोनोंकी जाति ही जुदी हो जाती है।

बहिनश्री :- सविकल्पदशा रागमिश्रित है। निर्विकल्पदशामें मात्र आनन्द है।—ऐसा अन्तर है। विभाव और स्वभावके बीच जैसा भेद है वैसा भेद नहीं है। ज्ञानी सविकल्पदशामें से निर्विकल्पदशामें तो कहाँसे कहाँ चला गया! अलग देशमें चला गया, आत्मामें डूब गया, स्वानुभूतिमें अंतर्लीन हो गया, यह दशा और सविकल्पदशा जो कि आकुलता सहित है; उनमें अन्तर है।—दोनोंके बीच तुलना हो नहीं सकती। चतुर्थ गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टिकी भूमिका जघन्य है और दशा ऊँची हो गई है ऐसा भी नहीं है; तथापि उसके वेदनमें उसी क्षण अन्तर है।

मुमुक्षु :- सविकल्पदशामें परिणतिके साथ आकुलता रहती है ?

बहिनश्री :- आकुलताके साथ परिणतिमें शान्ति भी है। उपयोग बाहर जाता है उसमें आकुलता साथ ही रहती है। प्रशस्त या अप्रशस्त जो भी भाव हो परन्तु उसके साथ आकुलता है; रागका विकल्प है। अकेली निर्विकल्प-विकल्प रहित निवृत्तिमय परिणति, अकेली शान्तिमय परिणति, जहाँ अन्य कोई विकल्प नहीं उठता, अरे ! जहाँ सूक्ष्म अबुद्धिपूर्वकका विकल्प भी एकदम गौण है; मानो है या नहीं है—ऐसी दशा ! उस दशा के साथ सविकल्पताकी तुलना नहीं की जा सकती। वर्तमान भूमिका भले चाहे जो हो।

(स्वानुभूतिदर्शन-३०८)



ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (नवम्बर-२०१२) का शुल्क श्री वंदनाबहन रणधीरभाई घोषाल, कलकत्ता के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



बाह्य प्रवृत्तिका व्यवहारसे सुमेल होने पर भी निश्चयसे प्रतिकूल है। परन्तु दोनोंमें से किसी भी प्राकरकी प्रवृत्तिमें कर्तृत्व नहीं होनेसे खुद उसका निर्णय कुदरत अधीन छोड़ देते हैं।

‘अद्भुत दशा निरंतर रहा करती है। अवधूत हुए हैं, अवधूत करनेके लिये कई जीवोंके प्रति दृष्टि है। ... (इसके लिए) बहुत कुछ बतानेकी इच्छा होती है, परन्तु लिखने या बोलनेकी अधिक इच्छा नहीं रही।’

परम कृपालुदेवकी स्वरूपमें एकत्वकी विशेष तारतम्यता युक्त अद्भुत दशा निरंतर रहा करती है और इस परिणतिके वशात् स्वयं अवधूत हुए हैं। परम कृपालुदेवका मार्गमें प्रवेश बलवानरूपसे हुआ है, कि जिसके कारण शुरुआतके दिनोंमें ही आत्माकी मस्ती, अवधूत महात्मा जैसी अद्भुत हुई है। धन्य है ऐसी आराधनाको!

अपने जैसी आत्मदशा करनेके लिए बहुतसे जीवोंके प्रति उनकी करुणादृष्टि है और इसके लिए बहुत कुछ कहनेकी इच्छा होती है, फिर भी विकल्प मर्यादित हो जानेसे अतवा रागरस कम हो जानेसे लिखनेकी या बोलनेकी अधिक इच्छा सहजरूपसे नहीं रही।

### करुणासागर पूज्य भाईश्री ‘शशीभाई’ के ८०वें जन्म-जयंती महोत्सव पर धार्मिक कार्यक्रम

मुमुक्षुजीवों के परम तारणहार पूज्य भाईश्री शशीभाई का आगामी ८०वाँ जन्म जयंती महोत्सव मार्गशीर्ष सुदी-४, दि. १६-१२-१२ से मार्गशीर्ष सुदी-८, दि. २०-१२-१२ पर्यंत अत्यंत आनंदोल्लासपूर्वक मनाया जायेगा। इस प्रसंग पर मंडल विधान पूजन, पूज्य भाईश्री के ऑडियो एवं विडीयो सी.डी. प्रवचन, पूज्य गुरुदेवश्री के विडीयो सी.डी. प्रवचन, पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन की तत्त्वचर्चा, भक्ति, सत्संग, सांस्कृतिक कार्यक्रम रहेंगे और दि. १९-१२-२०१२ के दिन जिनेन्द्र रथयात्रा का कार्यक्रम रहेगा।

इस प्रसंग पर आनेवाले मुमुक्षु ट्रस्ट के कार्यालय में यहाँ पर पहुँचने की तारीख लिखें, जिससे उनकी आवास एवं भोजन की समुचित व्यवस्था हो सके।

कार्यक्रम स्थल :- श्री शशीप्रभु साधना-स्मृति मंदिर, प्लोट नं. १९४२-बी, शशीप्रभु चोक, रूपाणी सर्कल के पास, भावनगर-३६४००१

संपर्क : श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाड़ी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर-३६४००१.

### सुप्रभात

शासननायक अंतिम तीर्थाधिनाथ श्री महावीरप्रभु के निर्वाणकल्याणक के दिन, आत्महित की तीव्र भावना के दीप प्रज्ज्वलित कर शाश्वत सुख-शांति को प्राप्त करें ऐसी भावना के साथ उनके पावन पादयुगल में भक्तिभावपूर्वक वंदन हो ! वंदन हो !

नूतन वर्ष के सुप्रभात के सुअवसर पर सर्व सिद्ध भगवंतों को नमस्कार कर, भावनिद्रा का नाश कर सम्यक्त्वरूप सुप्रभात प्रगट करके, अज्ञान अंधकार का नाश करें ऐसी भावना के साथ ‘स्वानुभूतिप्रकाश’ के सभी पाठक वर्ग को नूतन वर्षाभिनंदन।

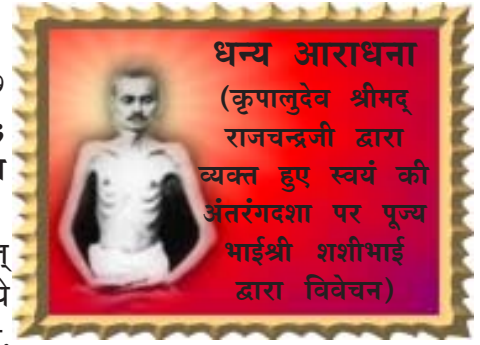
१७३

बंबई, कार्तिक वदी ३, शनि, १९४७

‘प्रवृत्ति है तो उसके लिये कुछ असमता नहीं है; परन्तु निवृत्ति होती तो अन्य आत्माओंको मार्गप्राप्तिका कारण होता’

स्वयं को पूर्व उपार्जित कर्मबंधनके कारण प्रवृत्ति है अर्थात् प्रवृत्तिकी इच्छापूर्वक प्रवृत्ति नहीं है। फिर भी यह प्रवृत्ति नये कर्मबंधनका कारण नहीं होती है। ऐसी दशामें प्रवर्तना होनेसे, और उपार्जित कर्म समभावपूर्वक वेदन करने योग्य होनेसे, प्रवृत्ति सम्बन्धी विषमय परिणाम या असमता नहीं होती है। अतः खुदको वह नुकसानका कारण नहीं है; परन्तु यदि बाह्य निवृत्ति होती तो दूसरे मुमुक्षु आत्माओंको सत्संगका योग विशेषरूपसे प्राप्त हो सकता था और जिससे उन लोगोंको सन्मार्ग प्राप्त होनेका निमित्त कारण मिलता या अपूर्व हितके दातार बनते।

१७६



बंबई, कार्तिक वदी ९, शुक्र, १९४७

‘जो छूटनेके लिये ही जाता है वह बंधनमें नहीं आता, यह वाक्य निःशंक अनुभवका है। ....कि जिसे छूटनेकी वृद्ध इच्छा होती है उसे बन्धनका विकल्प मिट जाता है;

और यह इस बातका सत्साक्षी है।’

स्वयंके अनुभवसे परम कृपालुदेव यहाँ कहते हैं कि, जिस जीवको कर्मबंधनसे छूटनेके अलावा अर्थात् मोक्षके अलावा दूसरा ध्येय नहीं है वह जीव बंधनमें नहीं आता; क्योंकि जिसे अंतरसे छूटनेकी भावनापूर्वक निर्धार होता है, उस जीवको अपनी भावना-विरुद्धके परिणाम नहीं होते अथवा कदापि होते हैं तो तीव्र रसपूर्वक नहीं होते, बल्कि मंदरसपूर्वक होनेवाले परिणामका भी निषेध वर्तता है। ऐसी योग्यतामें वर्तते जीवको बंधनकी यानी भवकी शंका मिटती है, जिसकी साक्षी स्वयं ही हैं। उपरोक्त दशासे गुजरकर, स्वयं आगे बढ़कर मोक्षमार्गमें बढ़ती दशामें परिणमन कर रहे हैं। इस विषयका सैद्धांतिक रहस्य ऐसा है कि मुमुक्षुजीवनकी वास्तविक शुरुआत पूर्णताके लक्ष्यसे होती है; और जिसका पूर्ण शुद्ध होनेका ध्येय निश्चित हुआ हो, उसीको ग्रंथिभेदके लिए जिस मात्रामें वीर्यगति-जागृति आदि चाहिए उस मात्रामें शुरुआत होकर वृद्धिगत होते हैं। ऐसे जीवको मोक्षकी भनक अंदरसे आती है।

‘एक और तो परमार्थमार्गको शीघ्रतासे प्रगट करनेकी इच्छा है, और एक ओर अलख ‘लय’ में समा जानेकी इच्छा रहती है। अलख ‘लय’ में आत्मासे समावेश हुआ है, योगसे करना यह एक रटन है। परमार्थके मार्गको, बुहतसे मुमुक्षु प्राप्त करें, अलख समाधि प्राप्त करें तो अच्छा, और इसके लिये कितना ही मनन है।’

परम कृपालुदेवके परिणमनमें निश्चय-व्यवहार संधियुक्त सहज स्थिति वर्तती है; जिसमें एक ओर जिनेश्वरदेवका मार्ग बहुतसे मुमुक्षुओंको प्राप्त हो इसके लिए शीघ्र प्रकाशित करनेकी इच्छा रहती है, तो दूसरी ओर अधीन्द्रिय अंतर्मुख भावमें समाये रहें ऐसा रहता है। यद्यपि इन्द्रियसे पार (अलख) ऐसे परिणमनमें आत्माका काफी मात्रामें भावसे समावेश हुआ है। द्रव्यसे वैसी ही स्थिति रह जाये ऐसा निरंतर एक लक्ष्य रहता है अर्थात् पूर्णदशाका लक्ष्य रहता है। दूसरे मुमुक्षु भी इस स्वरूप समाधिको प्राप्त हो तो अच्छा, इसके लिए सहजरूपसे थोड़ा मनन चलता है। इस तरह अंतर और